द्वादश अध्याय

आयुर्वेद के आठ अंग

सुश्रुतसंहिता (सू० १।६) में यह उल्लेख है कि ब्रह्मा ने मनुष्य की सृष्टि के पहले ही आयुर्वेद का एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें एक लाख श्लोक और एक हजार अध्याय थे।

ब्रह्मा ने मनुष्यों की आयु तथा बुद्धि की अल्पता का विचार कर आयुर्वेद को आठ अंगों में विभक्त कर दिया। जैसे—(१) शल्य, (२) शालाक्य, (३) कायचिकित्सा, (४) भूतविद्या, (५) कौमारभृत्य, (६) अगदतन्त्र (७) रसायन-तन्त्र और (८) वाजीकरण।[1]

शल्यतन्त्र[2]

अनेक प्रकार के घास, लकड़ी, पत्थर, धूलिकण, धातु (लोहा आदि), मिट्टी, हड्डी, केश, नख, पूय, आश्राव, मूढगर्भ आदि शारीरिक तथा आगन्तुक शल्यों के

---

१. सु० सू० १।७।

२. सु० सू० १।८।१।

निकालने के लिए यंत्र, शस्त्र, क्षारकर्म, अग्निकर्म के प्रयोग के लिए विविध प्रकार के व्रणों का विनिश्चय करने के लिए यह शल्य नामक आयुर्वेदाङ्ग प्रवृत्त होता है। इसे ही 'शल्यतन्त्र' कहते हैं। शल्यतन्त्र को पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान में सर्जरी (Surgery) कहते हैं।

शल्यतन्त्र की प्रधानता[1]—आयुर्वेद के आठों अंगों में यह प्रथम और प्रधान है, क्योंकि शारीरिक रोग उत्पन्न होने के पूर्व देव-दानवों के युद्ध में प्रहारजन्य व्रणों के रोपण करने और यज्ञ के कटे हुए शिर को धड़ के साथ जोड़ देने के कारण शल्य ही प्रथम अंग है।

सभी आयुर्वेदाङ्गों में समान रूप से आवश्यक होने से यंत्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि के व्यवहार के कारण तथा शल्यक्रिया करने से शीघ्र आराम पहुँचने के कारण 'शल्य' सभी अंगों से अधिक वांछनीय है।

इस प्रकार औषधियों की अपेक्षा शीघ्रता से कार्य करने के कारण, जैसे विद्रधि एवं अर्श आदि अनेक रोग औषधियों से ठीक किये जा सकते हैं, परन्तु औषधि प्रयोग से चिकित्सा करने पर अधिक समय लग जाता है और कभी-कभी रोग ठीक भी नहीं होते, इसके विपरीत शल्यकर्म करने से रोग शीघ्र ठीक हो जाते हैं।

सुश्रुत टीकाकार डल्हण[2] ने कहा है कि केवल तृण, काष्ठ, धातु आदि ही शल्य नहीं है, अपितु 'शरीर में बाधा उत्पन्न करने वाला मल, दोष आदि भी शल्य कहे जाते हैं।' इस कथन से शल्य का सम्बन्ध समस्त शरीर से है।

शल्य अति प्राचीनकाल से आज तक अन्य आयुर्वेदाङ्गों की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठित और सम्मानित है। पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान की भी अधिक प्रगति उसकी सर्जरी में ही है।

वैदिक वाङ्मय में शल्य—सबसे प्राचीन वाङ्मय ऋग्वेद में भी शल्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। अश्विनीकुमारों ने सन्धानकर्म (Plastic Surgery) और अंग-प्रत्यारोपण (Transplantation) का कार्य किया था। 'दास' द्वारा 'दीर्घतमस' ऋषि के सिर और छाती को काट दिये जाने पर अश्विनीकुमारों ने उसके अंगों का संधान किया था। युद्ध में रवेल राजा की पत्नी विश्पला की टांग काट दिये जाने पर उसे लोहे की जंघा लगाकर जोड़ दिया गया। उपनिषद् में वर्णित 'मधु-विद्या' सन्धान-कर्म था, जिसे अश्विनीकुमारों ने दधीचि से प्राप्त किया था। कटे सिर को

---

१. सु० सू० १।१७-१८।

२. 'अतिप्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्।
यत्किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम्॥'
(सु० सू० १।८ पर डल्हण की टीका)

जोड़ने की विद्या 'प्रवर्य्य-विद्या' कहलाती थी। अश्विनीकुमारों ने दधीचि ऋषि के सिर को 'धड़' से अलग करके उसकी जगह घोड़े का सिर लगाकर उसके द्वारा मधु-विद्या (प्राणविद्या) ग्रहण कर पुनः मनुष्य का पहला सिर जोड़ दिया।

कौशिकसूत्र में शस्त्र से अभिघात के कारण अस्थिभंग या रक्त निकलने पर लाक्षा क्वाथ से सेंक और लाक्षा डालकर पकाये हुये दुग्धपान का विधान है।

वाल्मीकिरामायण (बाल का० ४९।६-१०) में इन्द्र के अण्डकोष के गिर जाने पर भेड़ के अण्डकोष के प्रत्यारोपण का उल्लेख है। महाभारत (भीष्म पर्व १२०।५५) में भी शल्य निकालने में दक्ष वैद्यों का संकेत है—'उपासितपूर्वाणो वैद्याः शल्योद्धरणको विदाः'।

शल्यतन्त्र के ग्रन्थ—संहिता ग्रन्थों में 'सुश्रुतसंहिता' सर्वप्रधान ग्रन्थ है। इस संहिता में व्रणागार व्यवस्था, व्रणों के प्रकार, उनकी चिकित्सा के आठ उपक्रम, आठ प्रकार के शस्त्रकर्म, यंत्र-शस्त्रों के प्रकार, जोंक लगाने, क्षार-प्रयोग, अग्निकर्म एवं सिरावेध आदि का विशद वर्णन किया गया है। कान, नाक और ओठ के कटने पर उनके सन्धान करने की विधि बतलायी गयी है। अर्श, अश्मरी (पथरी) और भगन्दर आदि में शस्त्र-प्रणिधान करने का विधान है।

सुश्रुत की विधियों के आधार पर ही आधुनिक सर्जरी का विकास हुआ है। 'शल्य' में सुश्रुतसंहिता का प्राचीन ग्रंथों में अद्वितीय स्थान है।

शल्यतन्त्र के प्राचीन ग्रन्थ (जो अब उपलब्ध नहीं है।)—

१. औपधेनव-तन्त्र—इसका कोई उद्धरण नहीं मिलता है।

२. औरभ्र-तन्त्र—इसका भी उद्धरण नहीं मिलता है।

३. वृद्ध सुश्रुत-तन्त्र—उपलब्ध सुश्रुतसंहिता का मूलभूत यह तन्त्र था।

४. पौष्कलावत-तन्त्र—इसका एक उद्धरण चक्रपाणि ने भानुमती टीका में (सु० सू० अ० १४) उद्धृत किया है—'पुष्कलावतेऽप्युक्तम्—आहारस्य यत् परं धाम तदग्निना रञ्जितं रक्तत्वं प्रतिपद्यते तत् सौम्याग्नेयत्वादुष्णद्रवैश्चाभिवर्द्धते।'

५. वैतरण-तन्त्र—इसका एक उद्धरण 'भगस्याधः' इत्यादि डल्हण ने (सु० चि० ७।३६) दिया है।

६. भोज-तन्त्र—यह शल्यतन्त्र का बृहदाकार तंत्र था। इस ग्रन्थ के उद्धरण डल्हण, चक्रपाणि, विजयरक्षित और श्रीकण्ठ ने दिया है, जिनका उल्लेख गणनाथसेन ने प्रत्यक्ष शारीर के उपोद्घात में किया है।

७. करवीर्य-तन्त्र—इनका एक उद्धरण निदान (अतिसार) की टीका में दिया है।

८. गोपुररक्षित—इसका कोई उद्धरण नहीं मिलता है।

९. भालुकि-तन्त्र—डल्हण, विजयरक्षित और श्रीकण्ठ ने इनके अनेक उद्धरण दिये हैं।

१०. कपिल-तन्त्र—चक्रपाणि (सु० सू० ६) ने इनका एक श्लोक उद्धृत किया है।

११. गौतम-तन्त्र—अर्शोनिदान की टीका में विजयरक्षित ने इनके तीन श्लोक दिये हैं।

१२. वृद्धभोज-तन्त्र—इसका कोई उद्धरण नहीं मिलता है।

वर्तमान में उपलब्ध शल्य ग्रन्थ—

१. शल्यतन्त्रसमुच्चय—ले० पं० वामदेव मिश्र, पटना। इसमें यन्त्रशस्त्रों के चित्र भी है। इसमें शल्य के विषयों का संकलन किया गया है। मूल मात्र उद्धृत है। मिश्रजी को चरक, सुश्रुत, वाग्भट, माधवनिदान, प्रत्यक्षशारीरम् और नेत्रशारीरम् (डा० मुंजे) ये सब ग्रन्थ कण्ठस्थ थे।

२. सौश्रुती—ले० रामनाथ द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन।

३. शल्य-समन्वय—ले० अनन्तराम शर्मा, हरिद्वार, इसके दो खण्ड हैं।

४. संक्षिप्त शल्य-विज्ञान—ले० डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा, वाराणसी।

५. शल्यप्रदीपिका—ले० डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा, वाराणसी।

६. शल्य-चिकित्सा के वरदान—ले० आत्मप्रकाश कैलास शाह।

७. सर्जिकल इथिक्स इन आयुर्वेद—पं० दामोदर शर्मा गौड़।

८. शल्यतन्त्र में रोगी-परीक्षा—डा० देशपाण्डे एवं जी० डी० सिंघल।

९. भग्न-चिकित्सा—डा० देशपाण्डे।

१०. आधुनिक शल्य-चिकित्सा के सिद्धान्त—डा० के० एन० उडुप एवं डा० के० पी० शुक्ल।

११. शल्य-विज्ञान—डा० सुरेन्द्र शर्मा।

१२. क्लीनीकल शल्य-विज्ञान—डा० अखिलानन्द शर्मा।

शालाक्य-तन्त्र

कर्ण, नेत्र, मुख, नासिका आदि जत्रु के ऊपर के अंगों में उत्पन्न हुए रोगों की शान्ति के लिए तथा शलाका-यन्त्र के प्रयोग के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग होता है, उसे 'शालाक्यतन्त्र' कहते हैं (सु० सू० १।८-२)।

'शलाका पटलवेधनी, तस्याः कर्म शालाक्यं, तत्प्रधानं तन्त्रं शालाक्यतन्त्रम्।'

शालाक्य में समाविष्ट किये गये अङ्गों में से आधुनिक चिकित्सा में कर्ण, नासिका और कण्ठ का एक विभाग माना गया है। आँख का एक स्वतन्त्र विभाग होता है। दाँत का भी स्वतन्त्र विभाग होता है।

ऋग्वेद में अश्विनीकुमारों द्वारा शालाक्य विषयक चमत्कारों के किये जाने का उल्लेख है। वे अन्धे ऋजाश्व को दृष्टिदान दिये। अन्धे कण्व को दृष्टि दिये। बहरे नार्षद को श्रवणशक्ति दिये। इन्द्र ने अन्धे परावृज को दृष्टिदान दिया।

ग्रन्थ—शालाक्य-तन्त्र का प्रमुख ग्रंथ 'सुश्रुतसंहिता' है, जिसके उत्तरतन्त्र के अध्याय १ से १९ तक नेत्ररोग का, २० तथा २१ में कर्णरोग का, २२ से २४ तक नासिकारोग का और २५-२६ में शिरोरोग का वर्णन है।

शालाक्य-सम्प्रदाय में बहुत से आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने ढंग का सम्प्रदाय चलाया। 'ब्राह्मण' ग्रन्थों में चक्षु सम्बन्धी एवं कर्ण सम्बन्धी वर्णन हैं। कौशिकसूत्र (३०।१-२) में नेत्ररोग के लिए भैषज्य-विधान बतलाया गया है।

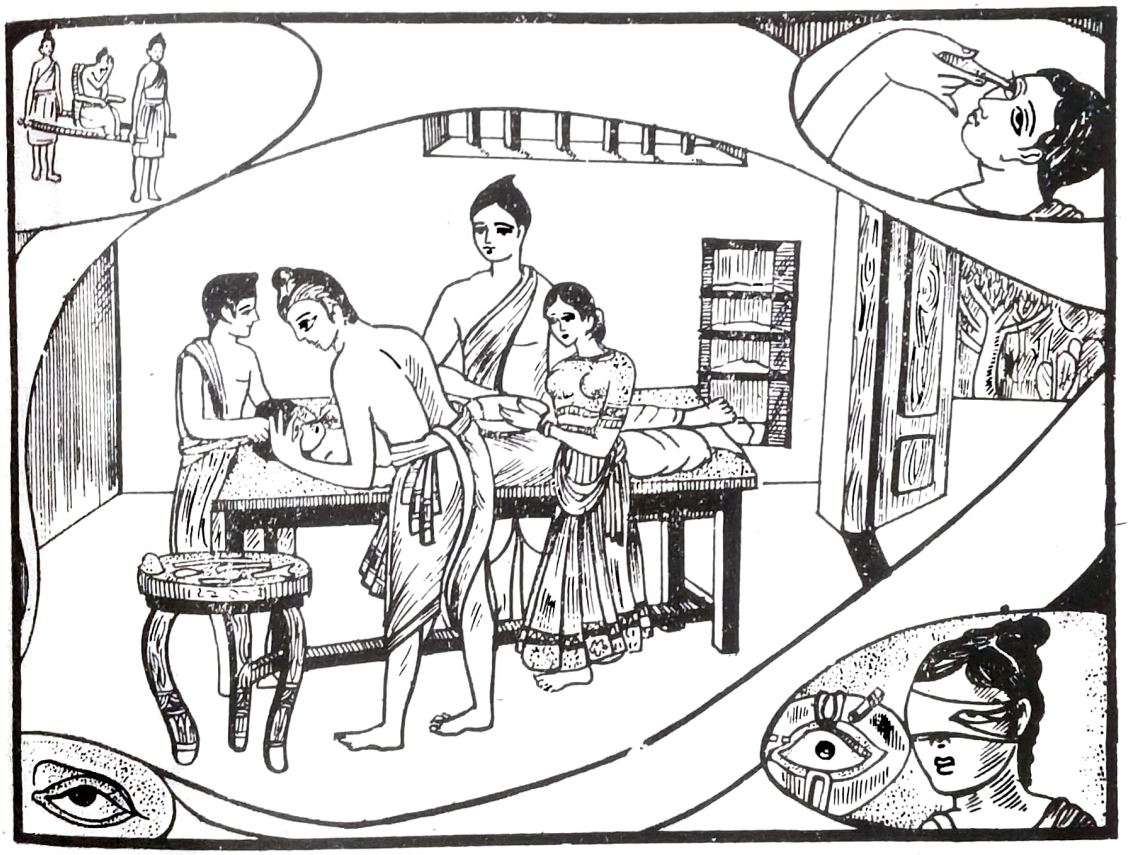

मोतियाबिन्द का शल्यकर्म

सुश्रुत के समय में नेत्र शारीर का अध्ययन तथा नेत्र के विभिन्न अवयवों में होने वाले रोगों का विशेष अध्ययन प्रचलित था। व्यावहारिक प्रयोग के लिए सेंक, विडालक लेप, नेत्रपूरण, अञ्जन, वर्ति आदि का प्रयोग किया जाता था। कान, नाक, कण्ठ, मुख आदि के रोगों के निदान और उनकी चिकित्सा का भी स्वतन्त्ररूप से अध्ययन किया जाता था। शस्त्रसाध्य रोगों में शस्त्रकर्म भी किया जाता था।

आयुर्वेद महाविद्यालयों में आधुनिक चिकित्सा के प्रवेश के साथ 'शालाक्य' के विशेष अध्ययन और नेत्र आदि रोगों की चिकित्सा एवं शस्त्रकर्म करने की ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट हुआ है।

पटना राजकीय आयुर्वेदिक कालेज के अध्यापक पं० वामदेव शर्मा और उनके कतिपय शिष्यों ने नेत्ररोगों की आयुर्वेदीय औषधियों द्वारा चिकित्सा करने में सराहनीय सफलता प्राप्त की।

शालाक्य के ग्रन्थ (तन्त्र)—(जिनके होने का प्रमाण मिलता है।)

१. विदेहतन्त्र—डल्हण, विजयरक्षित और श्रीकण्ठ ने इनके उद्धरण यत्र-तत्र दिये हैं।

२. निमितन्त्र–श्रीकण्ठ ने कर्णरोग की टीका में इनका उद्धरण दिया है।

३. काङ्कायनतन्त्र—कोई उद्धरण तो नहीं मिलता, किन्तु चरक ने इनका नाम लिया है।

४. गार्ग्यतन्त्र—कोई उद्धरण नहीं प्राप्त होता है।

५. सात्यकितन्त्र—डल्हण और श्रीकण्ठ में इनका उद्धरण दिया है। इनके नाम पर कुछ अनपढ़ नेत्र-चिकित्सक देहातों में घूम-घूम कर मोतियाविन्द का आपरेशन करते हैं। वे 'सथिया' कहलाते हैं। ये लोग अपनी परम्परागत पद्धति से जहाँ रोगी मिला, वहीं अपनी चिकित्सा कर देते हैं।

६. शौनकतन्त्र—चरक, चक्रपाणि और डल्हण ने इनके उद्धरण दिये हैं।

७. करालतन्त्र—श्रीकण्ठ ने नेत्ररोग की टीका में इनका श्लोक उद्धृत किया है।

८. चक्षुष्यतन्त्र—श्रीकण्ठ ने शिरोरोग की टीका में इनका श्लोक लिखा है।

९. कृष्णात्रेयतन्त्रम्—शिवदास सेन ने इनका उद्धरण दिया है।

वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ—

१. शालाक्यतन्त्र—ले० पं० रमानाथ द्विवेदी, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी प्रकाशन। पाठ्यग्रन्थ के रूप में इसका अध्ययन प्रचलित है।

२. शालाक्य-विज्ञान—ले० डा० रवीन्द्रचन्द्र चौधरी।

३. नेत्ररोग-विज्ञान—डा० हंसराज, कालेड़ा, अजमेर प्रकाशन।

४. नेत्ररोग-विज्ञान—पं० विश्वनाथ द्विवेदी।

५. नेत्र-विज्ञान—डा० बालकृष्ण शिवराम मुञ्जे कृत, यह मूलग्रन्थ संस्कृत में है।

६. नेत्ररोग-चिकित्सा—डा० चमनलाल गौतम।

७. नेत्ररोग-विज्ञान (एलो०) डा० शिवदयाल गुप्त।

८. नेत्र-विज्ञान, कृष्णनारायण शुक्ल एवं कमला शुक्ल।

९. शालाक्यशास्त्र—डा० प्रमोदलाल भाटिया (कर्ण, नासा ग्रसनी रोगों का उपचार)।

१०. नेत्रचिकित्सा-विज्ञान—डा० रवीन्द्रचन्द्र चौधरी।

आयुर्वेद के स्नातकों में कुछ विद्वान् नेत्र-चिकित्सक के रूप में ख्याति अर्जित कर रहे हैं। आवश्यकता है सुश्रुत-परम्परा के पुनरुज्जीवन की। सही ढंग से औषधियों का निर्माण कर विभिन्न नेत्र-रोगों पर प्रयोग कर आयुर्वेदीय नेत्रचिकित्सा का गौरवपूर्ण पद दिया जा सकता है। बहुत से ऐसे अञ्जन हैं, जिनके नित्य प्रयोग से मोतियाबिन्द से बचा जा सकता है। जैसे—मुक्ताञ्जन, तुहिनाञ्जन, (रसतर०) आदि है।

कायचिकित्सा

आयुर्वेद के सभी अङ्गों में 'कायचिकित्सा' का प्रमुख स्थान है। अतिप्राचीन काल से वर्तमानकाल तक आयुर्वेद के सम्मान और प्रतिष्ठा का कारण आयुर्वेदीय 'कायचिकित्सा' है।

'ऋग्वेद' में अश्विनीकुमारों की चिकित्सा के अनेक चमत्कारपूर्ण उदाहरण मिलते हैं। जीर्णशीर्ण 'च्यवन' तथा 'वन्दन' ऋषि की चिकित्सा कर अश्विनीकुमारों ने उन्हें यौवन दिया। कक्षीवती की पुत्री 'घोषा' को कुष्ठरोग से मुक्त किया। कुष्ठ रोग से कृष्ण वर्ण शरीर वाले 'श्याव' का कुष्ठ दूर किया। ऋगवेद मे सूर्यरश्मि द्वारा हृदय रोग की चिकित्सा का वर्णन है। 'अपाला' का चर्मरोग तथा उसके पिता का गंजापन अश्विनीकुमारों ने दूर किया। राजयक्ष्मा आदि का भी ऋग्वेद में वर्णन है।

यजुर्वेद में अर्शरोग, श्लीपद, कुष्ठ, चर्मरोग, यक्ष्मा, विशूचिका, श्वयथु (शोथ), मुखपाक और श्लेष्म रोग का वर्णन है। 'अथर्ववेद' यो आयुर्वेद का उपजीव्य वेद है, जिसमें आयुर्वेद के अनेकानेक रोगों का वर्णन है और उनके प्रतिकार का विधान बतलाया गया है।

वैदिक चिकित्सा में पहले 'दैवव्यपाश्रय' चिकित्सा प्रमुख थी। रोगों के कारण देवता, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि का प्रकोप माना जाता था और उनको प्रसन्न करने के लिए बलि, उपहार, होम, जप, पूजा आदि का प्रयोग किया जाता था। आजकल भी वन्य जातियों में ज्वर आदि व्याधियों को भूतावेशजन्य मानकर झाड़-फूंक करना, बलि चढ़ाना और हवन आदि करना प्रचलित है। मन्त्रों के प्रयोग से, जप करने, अभिमन्त्रण जलाभिसेचन और धूपन आदि से चिकित्सा करने की पद्धति आज भी ग्रामीण जनों में देखी जाती है। यह सब प्रक्रिया आयुर्वेद के 'दैवव्यपाश्रय चिकित्सा' में समाहित है। रोगी के मनोबल बढ़ाने के लिए, उसके भय को दूर कर उसमें आत्म-विश्वास जगाने के लिए, उसे आश्वस्त करने के लिए यह सब उपचार किया जाता था। रोगी के मन को अहितकर विषयों से रोकने को 'सत्त्वावजय चिकित्सा' कहते हैं।

आयुर्वेदीय संहिताओं के निर्माण-काल में चिकित्सा की तीसरी प्रक्रिया 'युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा' अपनायी गई और रोगी की प्रकृति, दोषावस्था, देश, काल, बल,

शरीर-सात्म्य (हितकर) मनःस्थिति, एवं आयु आदि का विचार कर प्रत्येक रोगी के लिए अलग-अलग प्रकार की उसकी स्थिति के अनुसार औषधि-योजना की जाने लगी।

वात-पित्त-कफ इन तीनों दोषों का विस्तारपूर्वक अध्ययन कर इनके ६३ भेदों का निरूपण किया गया। उन दोषों के संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय आदि का विवेचन कर दोषानुसारिणी चिकित्सा का विधान किया गया। चरक ने दोषवैषम्य को रोग और दोषसाम्य को आरोग्य माना है—'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता'।

शरीर को दोष-धातु और मल का एक संगठन कहा गया है—'दोषधातुमलं मूलं हि शरीरम्'। जब शरीर में दोष, धातु और मलों की क्रिया निर्बाध रूप से अपने स्वाभाविक ढंग से होती रहती है, तब शरीर नीरोग रहता है एवं इन तीनों में किसी की भी क्रिया विकृत होने से रोगों की उत्पत्ति होती है। इस आधार पर आयुर्वेद ने दोष-धातु-मलों का विस्तृत विवेचन किया और प्रथम दृष्टचा यह निर्देश दिया कि इनमें कोई विकार उत्पन्न न होने पाये।

इसी दृष्टिकोण से आयुर्वेद के दो प्रयोजन कहे गये हैं—(१) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और (२) रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना।

आयुर्वेदशास्त्र में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को यथावत् कायम रखने के लिए दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या आदि के नियम, सदाचार, आहार-विहार आदि सभी छोटे-मोटे प्रसङ्गों को महत्त्वपूर्ण ढंग से बतलाया गया है और उनके पालन में सदैव सावधानी बर्तने का बार-बार निर्देश दिया गया है। जिस प्रकार राजा अपने राज्य की अन्तः-बाह्य स्थितियों को सम्हाल कर राज्य का परिपालन सावधानी से करता है उसी तरह शरीर की रक्षा करनी चाहिए—'नगरी नगरस्येव रथस्येव रथी यथा। स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत्'। —च० सू० ५।१०३

काय-चिकित्सा की परिभाषा—शरीर के सर्वाङ्ग में होने वाले ज्वर, रक्तपित्त, शोष, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ एवं अतिसार आदि रोगों की चिकित्सा का विधान जिसमें किया जाता है, आयुर्वेद के उस अङ्ग को 'कायचिकित्सा' कहते हैं—

'कायचिकित्सा नाम सर्वाङ्गसंश्रितानां व्याधीनां ज्वर-रक्तपित्त-शोषोन्मादापस्मार-कुष्ठातिसारादीनामुपशमनार्थम्'। —सु० सू० १।३

काय-चिकित्सा की शाब्दिक व्युत्पत्ति—'कायः सकलं शरीरं तस्य चिकित्सा काय-चिकित्सा। काय का अर्थ है—सम्पूर्ण शरीर, अतः सम्पूर्ण शरीरगत रोगों की चिकित्सा को 'कायचिकित्सा' कहते हैं।

'कायचिकित्सा' शब्द दो शब्दों के योग से बना हुआ है—काय + चिकित्सा। इसलिए इन दोनों शब्दों का अलग-अलग शब्दार्थ जानने पर ही सम्पूर्ण 'कायचिकित्सा' शब्द के यथार्थ अर्थ का बोध हो सकता है। अतः काय और चिकित्सा शब्द का निर्वचन किया जा रहा है।

काय—जो शब्द करे, उसे काय कहते हैं—'कायति शब्दायते इति कायः'। कान को अंगुली बन्द करने पर एक ध्वनि सुनाई देती है। यह ध्वनि जीवित शरीर का चिह्न है और इस जीवित शरीर की चिकित्सा करना ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है।

इसका तात्पर्य यह है कि हृदय की गति का नियमन करना ही कायचिकित्सा है, क्योंकि 'कायति शब्दं करोति' इस व्युत्पत्ति से काय का अर्थ हृदय है और उसकी चिकित्सा करना ही सर्वाधिक मूल्यवान् पक्ष है, अतः किसी भी रोग के होने पर हृदय की गति का यथावत् संचालन वाञ्छनीय कर्तव्य होता है।

काय का दूसरा अर्थ है—शरीर या देह। जिसका अन्नादि आहार से पोषण होता है, उसे काय कहते हैं—'चीयतेऽन्नादिभिः' इति कायः। 'चिञ्चयने' धातु से काय शब्द बना है। देह शब्द 'दिह वर्धने' धातु से बना है। प्रतिक्षण क्षीयमाण शरीर की अन्नादि आहार से पुष्टि होती हैं, अतः इसे 'काय' कहते हैं। एवञ्च क्षीयमाण शरीर परमाणुओं का अन्नादि से पोषण होकर वृद्धि होती है, अतः यह 'देह' कहलाता है। इस प्रकार के शरीर की चिकित्सा कायचिकित्सा है।

काय का तीसरा अर्थ है—जाठराग्नि। मधुकोष-टीका में 'भोज' का वचन उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि जीवित प्राणियों की जठराग्नि को 'काय' कहते हैं। इस अग्नि के विकृत हो जाने पर उसको प्राकृतिक स्थिति में लाने के लिए जो उपचार किया जाता है, उस उपचार को 'कायचिकित्सा' कहते हैं और उपचार करने वाले वैद्य को कायचिकित्सक कहते हैं—

'जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः।'

शरीर में तेरह प्रकार की अग्नियाँ होती हैं—एक जाठराग्नि, सात धात्वग्नि और पञ्च महाभूताग्नि। इनमें जाठराग्नि ही प्रधान है, क्योंकि जाठराग्नि से ही अन्य अग्नियों को बल मिलता है। इस प्रकार इन अग्नियों के समस्त विकारों (अवस्थापाक सम्बन्धी या धातुपाक सम्बन्धी विकार) की चिकित्सा को कायचिकित्सा कहते हैं।

'अग्नि के शान्त हो जाने पर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और अग्नि की विकृति होने पर मनुष्य नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जाता है। जिस मनुष्य की अग्नि ठीक रहती है, वह बिना किसी रोग से आक्रान्त हुए दीर्घ काल तक जीवित रहता है—

'शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥'—च० चि० १५

जाठराग्नि की इस प्रतिष्ठा के कारण ही उसकी चिकित्सा करने वाले अंग 'काय-चिकित्सा' का आठों अंगों में प्रधान स्थान माना गया है।

चिकित्सा—'कित् रोगापनयने' धातु से चिकित्सा शब्द बना है। रोग के अपनयन (दूर करना) को चिकित्सा कहते हैं। रोग के प्रतिकार, निग्रह या नाश को चिकित्सा कहते हैं—'चिकित्सा रुक्प्रतिक्रिया'। व्याधि को दूर करने के लिए जो प्रक्रिया की जाती है, वह चिकित्सा है—

'या क्रिया व्याधिहरणी सा चिकित्सा निगद्यते'।—वैद्यकशब्दसिन्धु।

चिकित्सा के पर्याय—क्रिया, कर्म, प्रतिकर्म, वैद्यकर्म, भिषक्कर्म, भिषग्जित, प्रतिवेध, प्रतिकार, प्रशमन, शमन, रोगापनयन, व्याधिहर, प्रायश्चित, चिकित्सित, पथ्य, साधन, औषध, प्रकृतिस्थापन, निग्रह, उपक्रम और उपचार।

चिकित्सा की परिभाषा—वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी—ये चारों अपने-अपने उत्तम गुणों से युक्त होकर, धातु वैषम्य होने पर, उस धातुवैषम्य को दूर करने एवं धातुसाम्य की स्थिति लाने के लिए प्रवृत्त होते हैं, उस प्रवृत्ति को 'चिकित्सा' कहते हैं—

'चतुर्णां भिषगादीनां शस्तानां धातु वैकृते।
प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते॥' —च० सू० १।१५

धातुओं की विकृति या वैषम्य ही रोग है। रोगावस्था में विषम हुए दोष या धातुओं को साम्यावस्था में लाने के लिए की जाने वाली क्रिया चिकित्सा कहलाती है-

'याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥'—च० सू० १६।२४

चिकित्सा के सामान्य सिद्धान्त—

१. चिकित्सा का पहला सिद्धान्त है कि जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो, उन कारणों का परित्याग करना चाहिए।

२. उष्णता से होने वाले रोगों में शीतोपचार और शीत से होने वाले रोगों में उष्ण उपचार करना चाहिए।

३. क्षीण हुए दोषों को बढ़ाना चाहिए, बढ़े हुए दोषों को घटाना चाहिए और सम दोषों को सम बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

४. शारीरिक रोगों को दूर करने के लिए दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिए।

५. मानसिक रोगों में ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति एवं चित्त की एकाग्रता आदि की प्रक्रिया अपना कर चिकित्सा करना चाहिए।

६. अच्छी तरह से प्रयुक्त किये गये संशोधन, संशमन, आहार और विहार रोगों का नियमन करते हैं।

७. रोग के अनुसार जहाँ जो उपयुक्त हो, वहाँ विधिपूर्वक संशोधन, संशमन और रोग के कारण का परित्याग करना चाहिए।

संशोधन पाँच प्रकार का होता है—(१) वमन, (२) विरेचन, (३) नस्य, (४) निरूह और (५) अनुवासन अथवा मतान्तर से रक्तमोक्षण। जिस क्रिया से दोष या मल बाहर निकल जाते हैं, उस क्रिया को शोधन कहते हैं।

संशमन—उसे कहते हैं, जो मल को बाहर नहीं निकालता एवं विषम धातुओं और दोषों को समान स्थिति में व्यवस्थित रखता है। संशमन के सात प्रकार—(१) दीपन, (२) पाचन, (३) क्षुधानियन्त्रण, (४) तृषानिग्रह, (५) परिश्रम करना, (६) धूप का सेवन करना, (७) वायु का सेवन करना। बृंहण कर्म भी शमन का कार्य करता है। बृंहण क्रिया से शरीर में बल, पुष्टि और स्थिरता की वृद्धि होती है।

चिकित्सा के प्रकार—

कायचिकित्सा के प्रमुख ग्रन्थ चरकसंहिता (चिकित्सा १।१) में चिकित्सा के दो प्रकार बतलाये गये हैं—स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को अधिक प्रशस्त (ऊर्जस्कर) बनाने वाला और रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करने वाला (आर्तस्य रोगनुत्)। प्रथम प्रकार प्रतिषेधक चिकित्सा है, इसमें स्वास्थ्य-विज्ञान या स्वस्थवृत्त के नियम आते हैं। शरीर के सभी कार्य निर्बाध रूप से अपने प्राकृतिक ढंग से होते रहें, एतदर्थ स्वस्थहित आहार-विहार का पालन अनिवार्य है। स्वस्थ आहार-विहार का सेवन हमें स्वस्थ तथा रोगरोधक शक्ति(Immunity)सम्पन्न बनाता है।

स्वस्थ ऊर्जस्कर के भी दो प्रकार होते हैं—(क) रसायन तथा (ख) वाजीकरण। शरीर की रस-रक्तादि धातुओं की प्रशस्ततापूर्वक प्राप्ति के उपाय को 'रसायन' कहते हैं ('लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्'—च० चि० १।१)। शरीर में धातुओं की पुष्टि और समृद्धि से दीर्घ जीवन प्राप्त होता है। च्यवन आदि ऋंषियों ने 'रसायन' के प्रयाग से यौवनावस्था तथा दीर्घायुष्य प्राप्त किया था। आज भी उचित विधि से रसायन का प्रयोग करने पर कुछ अंश तक बुद्धि, स्मृति एवं आयु की वृद्धि के उदाहरण सुलभ होते हैं।

वाजीकरण—यह वह प्रक्रिया है, जिसके प्रयोग से अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य, मैथुनासमर्थ एवं सन्तानहीन पुरुषों को वीर्यसम्पन्न, पौरुषशक्तिसंपन्न, प्रहर्षयुक्त तथा सन्तानोत्पत्ति में समर्थ बनाया जाता है। इसमें शुक्रवर्धक, कामोत्तेजक, प्रहर्ष-जनक तथा शुक्ररेचक आहार-विहार तथा औषधों का सेवन कराया जाता है।

इस प्रकार चिकित्सा के प्रथम पक्ष 'स्वस्थ ऊर्जस्कर' के दो भेदों का संक्षिप्त परिचय दिया गया।

चिकित्सा का दूसरा प्रकार रुग्ण व्यक्ति के रोग को दूर करना है। इसके तीन भेद हैं—(१) दैवव्यपाश्रय (२) युक्तिव्यपाश्रय और (३) सत्त्वावजय।

१. 'दैवव्यपाश्रय' चिकित्सा में रोगों को दूर करने के लिए मणियों का बन्धन, बलि, उपहार, मन्त्रजप और हवन आदि का विधान है।

२. 'युक्तिव्यपाश्रय' में रोगी की प्रकृति, दोष, दूष्य, बल, काल आदि का विचार कर औषध प्रयोग तथा आहार-विहार की समुचित योजना से रोग का उन्मूलन किया जाता है।

३. 'सत्त्वावजय' में मन को अहितकर विषयों में प्रवृत्त होने से रोका जाता है और ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, आश्वासन आदि के द्वारा मनोबल को बढ़ाया जाता है एवं सत्त्वगुण को बढ़ाने का उपाय किया जाता है।

पुनः युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा के तीन उपभेद होते हैं—

(१) अन्तः-परिमार्जन (२) वहिः-परिमार्जन और (३) शस्त्र-प्रणिधान। सुश्रुताचार्य ने युक्तिव्यपाश्रय के निम्न भेद किये हैं—

(१) संशोधन (२) संशमन (३) आहार और (४) आचार।

इन सभी भेदों को अधोनिर्दिष्ट सारणी द्वारा स्पष्ट किया जाता है—

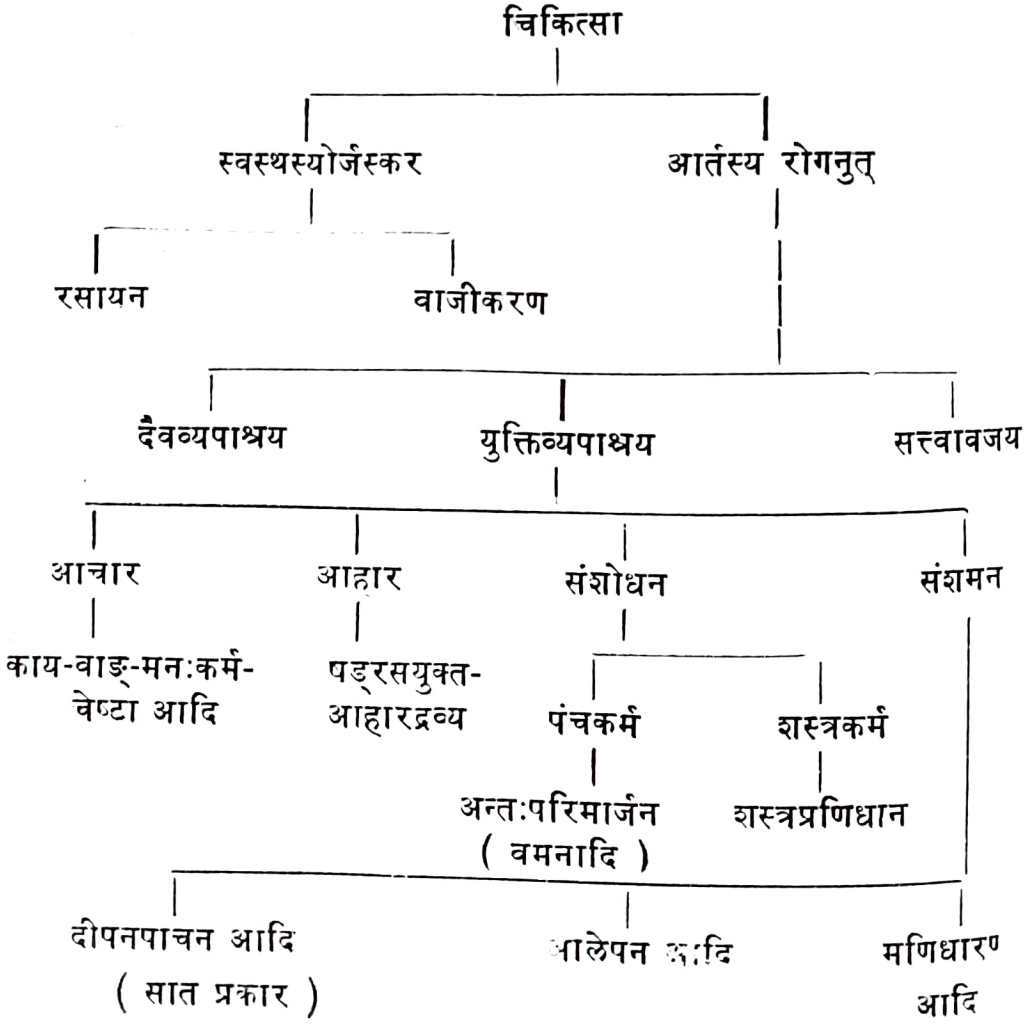

कर्म के आधार पर चिकित्सा के तीन भेद—

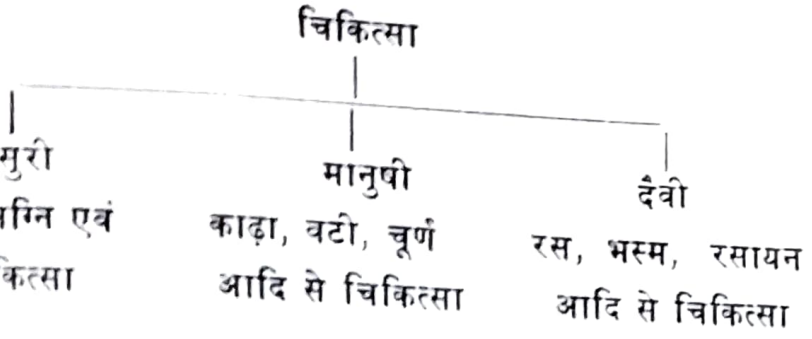

काय-चिकित्सा के संहिताग्रन्थ—

महामहोपाध्याय गणनाथसेन ने 'प्रत्यक्ष शारीर' के उपोद्घात में निम्नाङ्कित ग्रंथों का उल्लेख किया है, जो प्राचीनतम हैं और उनमें से अधिकांश अनुपलब्ध हैं।

अग्निवेशसंहिता—यह आत्रेय-सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ था। यह चरकसंहिता (अग्निवेशतन्त्र) से पृथक् था। चक्रपाणि, विजयरक्षित एवं श्रीकण्ठ आदि ने इस ग्रन्थ के उद्धरण दिये हैं।

भेलसंहिता—यह 'भेल' अग्निवेश के सहपाठी थे और आत्रेय के छः शिष्यों में से एक थे, जिन्होंने यह संहिता बनाई। तञ्जोर पुस्तकालय की पाण्डुलिपि के आधार पर यह ग्रन्थ सर्वप्रथम कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। द्वितीय प्रकाशन पं० गिरिजादयालु शुक्ल के संपादकत्व में चौखम्बा वाराणसी से सन् १९५९ में निकला। यह ग्रन्थ बीच-बीच में खण्डित रूप में छपा है।

जतूकर्णसंहिता—जतूकर्ण ने इसकी रचना की थी। अब यह दुर्लभ है। इसके उद्धरण चक्रपाणि, विजयरक्षित और श्रीकण्ठ ने अपनी टीकाओं में दिये हैं।

पराशरसंहिता—यह सम्प्रति अप्राप्त है।

क्षारपाणिसंहिता—शिवदाससेन ने ग्रहणी तथा कास रोगों की टीका में क्षार-पाणि के वचनों का उल्लेख किया है।

हारीतसंहिता—यह संहिता भी चक्रपाणि, विजयरक्षित, श्रीकण्ठ और शिवदास के समय उपलब्ध थी और इन लोगों ने यत्र-तत्र हारीत के कुछ उद्धरण दिये है। अब यह दुर्लभ है। इस नाम से उपलब्ध हारीतसंहिता किसी परवर्ती व्यक्ति की रचना है, क्योंकि इसमें चक्रपाणि आदि द्वारा उद्धृत पाठ नहीं मिलते हैं।

खरनादसंहिता—विजयरक्षित और हेमाद्रि ने खरनाद के वचनों का उद्धरण दिया है। सम्प्रति यह संहिता अनुपलब्ध है।

विश्वामित्रसंहिता, अगस्त्यसंहिता और अत्रिसंहिता के उद्धरण यत्र-तत्र मिलने से प्राचीनकाल में इनके अस्तित्व का बोध होता है, किन्तु अधुना ये सब नाममात्र अवशिष्ट ग्रंथ हैं।

चिकित्सा के ग्रन्थ—

ऐसे ग्रन्थ, जिनमें चिकित्सा से सम्बद्ध विषयों का वर्णन, रोगों का विवेचन और प्रत्येक रोग का क्रिया-क्रम तथा औषध योगों का भी वर्णन है, उनमें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रमुख हैं—

प्राचीन ग्रन्थ—

चरकसंहिता
सुश्रुतसंहिता
अष्टाङ्गसंग्रह
अष्टाङ्गहृदय
वृन्दमाधव —वृन्द
चक्रदत्त —चक्रपाणि
चिकित्सासारसंग्रह
भावप्रकाश —भावमिश्र

अर्वाचीन ग्रन्थ—

आयुर्वेद-विज्ञान
पंचकर्म-विज्ञान —श्रीधर कस्तुरे
चिकित्सादर्श —पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री
कायचिकित्सा —पं० रामरक्ष पाठक
कायचिकित्सा —पं० गंगासहाय पाण्डेय
भिषक्कर्मसिद्धि —पं० रमानाथ द्विवेदी
चिकित्सातत्त्व-प्रदीप —कालेड़ा वोगला, अजमेर
आधुनिक चिकित्साशास्त्र —धर्मदत्त वैद्य
योगरत्नाकर
कायचिकित्सा —ताराशंकर वैद्य
कायचिकित्सा-परिचय —सी० द्वारकानाथ
आयुर्वेद चिकित्सा-विज्ञान —वैद्य बनवारीलाल गौड
कायचिकित्सा —शिवचरण ध्यानी
चिकित्सा-दीपिका —बलवीरदत्त
आयुर्वेदीय चिकित्सादर्श —रविदत्त त्रिपाठी
अर्वाचीन मानसिक रोगविज्ञान —राजेन्द्रप्रसाद भटनागर
अरिष्ट-विज्ञान —रामनाथ द्विवेदी
कायचिकित्सा —धर्मदत्त
आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा के सिद्धान्त—रामहर्ष सिंह

चिकित्सातत्त्व-दीपिका —महावीरप्रसाद पाण्डेय

औषधयोगसंग्रह-ग्रन्थ—

भैषज्यरत्नावली —गोविन्ददास
नावनीतक
राजमार्तण्ड
धाराकल्प
गदनिग्रह
शार्ङ्गधरसंहिता
वीरसिंहावलोक
वसवराजीयम्
चिकित्साक्रम कल्पवल्ली
चिकित्साकलिका —तीसटाचार्य
वैद्य मनोरमा —वैद्य कालिदास
सिद्धभेषजमणिमाला —कृष्णराम भट्ट
सिद्धयोगसंग्रह —यादवजी
आयुर्वेद-प्रकाश
व्याधि-विज्ञान —आशानन्द पंचरत्न
वैद्यजीवन —लोलिम्बराज
सिद्धभेषज-संग्रह
वैद्यक रसराजमहोदधि
वैद्यमहचर —विश्वनाथ द्विवेदी
वैद्यचन्द्रोदय
निदान चिकित्सा हस्तामलक —रणजीत राय देसाई
सचित्र कैंसर डायग्नोसिस तथा
चिकित्सा —प्रियकुमार चौबे

कुछ अन्य ग्रन्थ—

पथ्यापथ्य-विनिर्णय
पथ्यापथ्यम्
पथ्यापथ्य-निरूपण
अनुपान-कल्पतरु
अनुपान-विज्ञान
अनुपान-तरङ्गिणी

अनुपान-दर्पण
अमृतसागर
इलाजुल गुर्बा
दिल्लगन-चिकित्सा
ज्वरमीमांसा —हरिशरणानन्द
कैंसर-चिकित्सा —प्रभाकर चटर्जी
राजयक्ष्माचिकित्सा —पारसनाथ पाण्डेय
संक्रामक रोग-विज्ञान —बालकराम शुक्ल
मन्थर ज्वर-विज्ञान
उपदंश-विज्ञान
मधुमेह-निदान और चिकित्सा
प्लीहारोग-चिकित्सा

भूतविद्या

आयुर्वेद का यह अंग सर्वाधिक उपेक्षित अंग है। इस विषय का स्वतन्त्र कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

परिभाषा—देवता, पितृ, पिशाच तथा ग्रह आदि के आक्रमण से पीड़ित व्यक्तियों के कष्ट को दूर करने के लिए, उन देव आदि के लिए बलि, उपहार, पूजा आदि के विधान के द्वारा रोग-शान्ति का उपचार जिस अंग द्वारा किया जाता है, उसे 'भूत-विद्या' कहते हैं।

आयुर्वेद में भूतोन्माद, अमानुषोपसर्ग तथा बालग्रहों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, वे सब रोग तथा मानसरोग अपस्मार आदि भूतविद्या के अन्तर्गत आते हैं—

'उन्मादः प्रतिषेधश्च तथाऽपस्मारिको गदः।
अमानुषनिषेधश्च भूतविद्या निरुच्यते॥' —सुश्रुत

भूतविद्या के विषय अथर्ववेद में भरे पड़े हैं। गुरु, सिद्ध, ऋषि, देवता, भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाच एवं स्कन्द, रेवती आदि ग्रहों के तिरस्कार करने पर उन्माद, अपस्मार आदि मानसरोग तथा अनेक प्रकार के शारीरिक रोग होते हैं। ऐसे रोगों के उपचार के लिए आक्रामक देवता, राक्षस या ग्रह आदि के अनुरूप बलि, पूजा, होम एवं जप आदि किये जाने पर रोग से मुक्ति मिलती है।

संहिता ग्रन्थों में बीजरूप में भूत-विद्या के विषय हैं, जैसे—सुश्रुतसंहिता में उत्तरतन्त्र अमानुषप्रतिषेधाध्याय। चरकसंहिता में उन्माद-चिकित्सा एवं वाग्भट में भूतविज्ञानीय एवं भूतप्रतिषेधाध्याय।

भूतविद्या का इतिहास वैदिक काल से लेकर अद्यतन अवधि तक उपलब्ध होता है। अनपढ़, वनेचर एवं ग्रामीण जन अधिकांशत: भूत-प्रेत के आक्रमण से त्रस्त होते देखे जाते हैं और उनकी चिकित्सा भी पुरोहित, ओझा, सोखा लोग ही कर देते हैं, वे रोगमुक्त भी होते देखे जाते हैं।

शहरी लोग भी अपवाद नहीं हैं। कभी-कभी उनको भी भूत-प्रेत से त्रस्त और रुग्ण होते देखा जाता है और उनकी भी चिकित्सा में दैवव्यपाश्रय प्रकार से ही आरोग्य लाभ होता है। जिस प्रकार दर्पण में छाया या धूप का संक्रमण होता है, उसी तरह अदृश्य रूप में भूत-प्रेत आदि का भी शरीर में सहसा आवेश हो जाता है।

भूताकान्त व्यक्ति आक्रान्त भूत के अनुसार सारी चेष्टाएँ करता है। कदाचित् अपौरुषेय शक्ति, ज्ञान और बल को देखकर नास्तिक व्यक्ति भी आस्तिक बन जाता है और भूत की विभीषिका से त्राण पाने के लिए सभी तरह का कर्मकाण्ड करता है।

भूतविद्या का वैशिष्ट्य—भूतविद्या एक रहस्यात्मक विद्या है, जिसकी सत्यता के उदाहरण सारे विश्व में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। आयुर्वेद सर्ववेद पारिषद्य (सभी प्रकार के ज्ञान का आगार) है और इसका प्रमुख लक्ष्य है—आर्तजन की पीड़ा का प्रतिकार करना। यों तो सभी रोगों के मूल कारण वात-पित्त-कफ होते हैं, किन्तु भूतविद्या सम्बन्धी रोगों के उद्भव में प्रमुख कारण अदृष्ट होता है अथवा अलक्षित कारण होता है, इसलिए इन रोगों का उपचार करना भी अतिशय साहस का कार्य है।

भूतविद्या के प्रसङ्ग को काश्यपसंहिता के 'रेवतीकल्प' में विस्तारपूर्वक देखा जा सकता है। उसका सारांश यह है कि जब मनुष्य उदात्त कर्तव्यों से विमुख होकर अनाचार, दुराचार और अपचार के मार्ग पर चलता है, तब उसे ग्रह पकड़ते हैं और वह धर्म के मार्ग पर चलने के लिए मजबूर हो जाता है।

धर्म ही उसे जीवन धारण की क्षमता देता है, जिसके आचरण के लिए दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का विधान किया गया है।

आयुर्वेद के त्रिकालदर्शी महर्षियों ने इस रहस्य को अपने अध्यात्मज्ञान से जान लिया था कि मानव-मन जब सत्त्वगुण को छोड़कर रज और तम गुणों में लिप्त हो जाता है, तब उसका धर्म का मार्ग छूट जाता है। वह अधर्म के पथ पर अग्रसर होता है। अधर्माचरण करने से प्रकृति में भी वैपरीत्य आ जाता है, ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। वायु, जल, देश और काल अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़ देते हैं। परिणामत: कृषि में भी समुचित गुणों का आधान नहीं हो पाता। मनुष्य को न तो पोषक तत्त्व ही मिल पाते हैं और न उसे शुद्ध वायु या जल ही मिल पाता है।

जब जीवन के उपकरण अन्नादि की कमी होती है, तब सम्पन्न लोग अपसंचय करने लगते हैं। संचित संपत्ति के प्रति उनकी ममता अधिक होती है। दूसरी ओर अभावग्रस्त क्षुधा से पीड़ित लोगों में उस धन के प्रति ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। इस प्रकार धनी और निर्धन दोनों ही संत्रास और घुटन की जिन्दगी जीने लगते हैं। जीवन के स्रोत की सरसता विनष्ट हो जाती है। मत्सर, असूया, काम, क्रोध, लोभ और दुश्चिन्ताओं के कारण विवेकबुद्धि अपहृत हो जाती है। जाने-अनजाने बुद्धि-विभ्रंश, धैर्य-विभ्रंश और औचित्य के विवेक का विभ्रंश होने लगता है। मनुष्य प्रज्ञापराध, मोह, मद, प्रमाद और मानसिक दुर्बलता से ग्रस्त होकर मानस रोगों का क्रीड़ास्थल बन जाता है।

मानव का दुर्बल मन कल्पित विभीषिकाओं की आशंकाओं से चतुर्दिक् घिर जाता है। रज और तम की तमिस्रा में उसकी दृष्टि शून्य हो जाती है, वह कर्तव्या-कर्तव्य ज्ञान रहित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। हीन मनोबल का व्यक्ति अपनी मनःस्थिति को नहीं सम्भाल पाता है और अनर्गल एवं तथ्यहीन वार्ता, अप्रासङ्गिक हास्य, रोदन, अंगों का ताड़न या दूसरों को डराना, धमकाना और चक्कर लगाना प्रारम्भ कर देता है। उसका आचार विपरीत हो जाता है। उसकी क्रियाओं में कोई अर्थ नहीं होता। वह उन्मत्त होकर इधर-उधर घूमने लगता है। यह उन्माद भूतविद्या का एक प्रकट उग्र स्वरूप है। इसी तरह रज और तम के विप्लव के आप्लावन में दिग्भ्रान्त मानव-मन नाना प्रकार के मानसिक विकारों के रोगजाल में सहसा आबद्ध हो जाता है।

एवञ्च 'भूतविद्या' को आयुर्वेदाचार्यों ने मानस-विकार माना है और इसके उपचार में तीनों ही प्रकार की चिकित्साएँ (दैवव्यपाश्रय, युक्तिव्यपाश्रय और सत्त्वावजय) आवश्यकतानुसार सफल होती हैं, बशर्ते कि उनका सम्यक् संयोजन किया जाय।

आयुर्वेद में 'भूतविद्या' के रोगों में जहाँ देवता, राक्षस, यक्ष और पिशाच आदि से आक्रान्त व्यक्ति को उनसे मुक्ति दिलाने के लिए शान्तिकर्म, बलि, होम और स्वस्त्ययन आदि का विधान है तो दूसरी ओर मन को स्थिर, शान्त, निर्भय, निर्विकार और प्रवर बनाने के लिए ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, समाधि, पवित्रता, संतोष और ईश्वराराधन का निर्देश दिया गया है।

मनुष्य के मन की दुर्बलता को दूर करने का जो भी प्रकार सफल हो, वह करना चाहिए। 'मनुष्य का मन उसकी श्रेष्ठ निधि है', जब मन सात्त्विक अभिलाषाओं की उर्वरा भूमि बन जाता है, तब उसमें सद्विचारों के सुन्दर फूल खिलते हैं, दृढ़संकल्प के मधुर फल लगते हैं और दीर्घ, स्वस्थ आयु, निर्विकार इन्द्रिय तथा सत्संकल्प की उपलब्धि होती है।

मन में ज्ञान, विवेक, सन्तोष, शान्ति और धैर्य की स्थापना करके ही कल्याणमय सुन्दर जीवन की आशा की जा सकती है। भूतविद्या का प्रधान विषय है—मनः-स्थिति का सम्पूर्णतया अध्ययन करना और मनोविकारों के दूरीकरण का मार्ग-निर्देशन का मानव-मन से आतङ्क का अपनयन करना।

आचार्य चरक ने सूत्ररूप में 'उपयाभिष्लुता चिकित्सा' का निर्देश किया है, जिसमें भय दिखाना, आश्चर्य में डालना, विस्मारण, क्षोभ उत्पन्न करना, हर्ष उत्पन्न करना, निन्दा करना, मारना, बाँधना, शयन कराना और मालिश करने का विधान है—'उपायो नाम—भयदर्शनविस्मापनविस्मारणक्षोभणहर्षणभर्त्सनबधबन्धस्वप्नसंवाह-नादिरमूर्तो भावविशेषः'।—च० वि० ८।८७

भूतविद्या सम्बन्धी रोगों से बचने के लिए निम्नलिखित श्लोक अवधेय हैं—

'नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धं
सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे
यस्यास्ति तं नानुतपन्ति रोगाः॥'

—च० शा० २।४६-४७

भूतविद्या सम्बन्धी ग्रन्थ-सन्दर्भ—

चरकसंहिता—निदानस्थान, अ० ७ तथा ८, चिकित्सा ९ तथा १०, सूत्र० २४।
सुश्रुतसंहिता—उत्तरतन्त्र २७ से ३७ तक तथा ६०, ६१ एवं ६२ अ०।
अष्टाङ्गहृदय - निदान० ६ तथा उत्तर० १ से ७ अ०।
माधवनिदान—मद-मूर्च्छा-संन्यास, उन्माद, अपस्मार, बालग्रह।
मानसरोग-विज्ञान—डा० बालकृष्ण पाठक।
मानसिक आरोग्य-विज्ञान—डी० बी० क्लेन।
मानसिक एवं तन्त्रिकारोग-चिकित्सा—डा० प्रियकुमार चौबे।
मानसरोग तुलनात्मक अध्ययन—वीरेन्द्र कुमार शर्मा।
प्राचीन भारतीय मनोविकार-विज्ञान—अयोध्यानाथ 'अचल'।
मानसिक शक्ति के चमत्कार—सत्यकाम विद्यालङ्कार।
मानसमन्दता और-चिकित्सक का उत्तरदायित्व—डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा।
आयुर्वेदशास्त्रे भूतविद्यायाः संवीक्षणात्मकमध्ययनम्—डा० विद्याधर शुक्ल, (**शोध-प्रबन्ध**)।

कौमारभृत्य

इस आयुर्वेदाङ्ग में कुमार (बालक) के भरण-पोषण की व्यवस्था, धात्री-परीक्षा, दुष्ट दुग्ध-विशोधन, ग्रहजन्य रोगों का प्रतीकार तथा बालकों के रोगों की चिकित्सा का विधान किया जाता है—

'कौमारभृत्यं नाम–कुमारभरणधात्रीक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यग्रहसमुत्थानाञ्च व्याधीनामुपशमनार्थम्' ।— सु० सू० १ ।

काश्यपसंहिता के शिष्योपक्रमणीय अध्याय में कौमारभृत्य को आठों अङ्गों में प्रथम कहा गया है—'कौमारभृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्यमुच्यते ।'

बालक ही भविष्य में किसी देश का नागरिक बनता है और उसकी बाल्यावस्था के स्वास्थ्य का जीवन भर प्रभाव रहता है । अतः बालक की देखरेख सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण कर्तव्य है ।

आयु के अनुसार बालक तीन प्रकार के होते हैं—१. क्षीरप (दूध पीने वाले), २. क्षीरान्नाद (दूध और अन्न खाने वाले) और ३. अन्नाद (केवल अन्न पर निर्भर रहने वाले) । बालक के जन्म होने के साथ ही उसका उपचार शुरू हो जाता है। उसके कुछ संस्कार किये जाते हैं। उसके पेय-लेह्य की व्यवस्था की जाती है। उसकी रक्षा के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है ।

बालकों की विभिन्न आयु में भिन्न-भिन्न ग्रहों के प्रकोप से होने वाले रोगों का वर्णन है और उनके उपचार का विधान किया गया है ।

प्रसवागार के साथ ही कुमारागार की व्यवस्था के सम्बन्ध में चरकसंहिता के शारीरस्थान आठ में विस्तृत वर्णन है । बच्चे के जन्म के समय और बाद में क्या-क्या करना चाहिए, वह सब बतलाया गया है । बालक को संभावित रोगों से बचाने के लिए रक्षा-विधान का वर्णन है । काश्यपसंहिता में बालक की उत्पत्ति उसके रोगों का निदान और चिकित्सा का विशद वर्णन है ।

कौमारभृत्य के ग्रन्थ और सन्दर्भ—

चरकसंहिता—शारीरस्थान ८ ।
सुश्रुतसंहिता—उत्तर० २७ से ३७ ।
अष्टाङ्गहृदय—उत्तर० १ से ७ ।
जीवकतन्त्र—अनुपलब्ध ।
पार्वतकतन्त्र—अनुपलब्ध ।
हिरण्याक्षतन्त्र—अनुपलब्ध ।
बन्धकतन्त्र—अनुपलब्ध ।
बालचिकित्सामृत—(नेपाल राजकीय पुस्तकालयस्थ) ।

बालतन्त्र —कल्याण वर्माकृत ।

योग-सुधानिधि ।

कुमारतन्त्र —रावणकृत ।

कुमारतन्त्र-समुच्चय——रमानाथ द्विवेदी ।

कौमारभृत्य —रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ।

अभिनव कौमारभृत्य—राधाकृष्णनाथ ।

काश्यपसंहिता—यह कौमारभृत्य-तन्त्र का सर्वप्रमुख ग्रन्थ है । इसमें बहुत से ऐसे विषय हैं, जिनका उल्लेख अन्य संहिताओं में नहीं है ।

'दन्तजन्माध्याय' में दाँतों के भेद, उनकी प्रशस्तता, बालक-बालिकाओं के दाँतों में भेद आदि विषय विशिष्ट हैं, । 'स्वेदाध्याय' में बालकों के स्वेदन के विषय में बहुत सुन्दर निरूपण किया गया है । 'लक्षणाध्याय' में सामुद्रिक लक्षणों का विशेष वर्णन किया गया है । अत्यन्त छोटे बालकों में अश्मरी के उद्धरण तथा तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग का विशेष रूप से निषेध किया गया है ।

बालकों के वस्तिकर्म में विशेष सावधानी बरतने का निर्देश किया गया है । 'फक्क-रोग' का विशेष वर्णन है, इस रोग में तीन पहिए की गाड़ी का उल्लेख है । 'अन्न-प्राशन' विधान में छठें मास में फलों का रस और बारहवें मास के बाद अन्न देने का विधान बतलाया गया है ।

'वेदनाध्याय' में वाणी द्वारा वेदना बताने में असमर्थ बालकों की भिन्न-भिन्न चेष्टाओं द्वारा उनके अङ्गों की वेदना को अनुमान के द्वारा जानने का निर्देश है ।

'रेवतीकल्पाध्याय' में जातहारिणी ग्रह का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । उसमें आचार एवं अपने-अपने कर्तव्य-पालन का तिरस्कार करने वाले को जातहारिणी ग्रह के ग्रहण की बात कही गई है । इस माध्यम से समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठा और ईमानदारी बर्तने का संकेत किया गया है ।

अगदतन्त्र

यह सुश्रुत की दी हुई संज्ञा है । चरक ने इसे 'विषगरवैरोधिक-प्रशमन' कहा है । अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय में इसका नाम 'दंष्ट्राचिकित्सा' है ।

सर्प, कीट, लूता आदि से डँसे हुए, अनेक प्रकार के स्वाभाविक, कृत्रिम और संयोग विष से ग्रस्त मनुष्यों के निदान तथा चिकित्सा के लिए जो अङ्ग होता है, उसे 'अगद-तन्त्र' कहते हैं—'अगदतन्त्रं नाम–सर्पकीटलूतामूषिकादिदष्टविषव्यञ्जनार्थं विविध-विषसंयोगोपशमनार्थं च'—सुश्रुत ।

इस विषय के संहिताग्रन्थ सम्प्रति विलुप्तप्राय हैं । गणानाथसेन ने कुछ संहिताओं का नाम दिया है—

काश्यपसंहिता—डल्हण, चक्रपाणि और श्रीकण्ठ ने काश्यप के सन्दर्भों को उद्धृत किया है। संभवतः यह संहिता अगदतन्त्र प्रधान थी।

आलम्बायनसंहिता—इसका उद्धरण श्रीकण्ठ ने दिया है।

उशनःसंहिता

सनकसंहिता

लाट्यायनसंहिता—डल्हण ने इसका उद्धरण दिया है।

चरकसंहिता—चिकित्सास्थान अ० २३।

सुश्रुतसंहिता कल्पस्थान।

अष्टाङ्गहृदय उत्तरस्थान अ० ३५, ३६, ३७ तथा ३८।

अगदतन्त्र—रमानाथ द्विवेदी।

अगदतन्त्र—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल।

विषचिकित्सा—उमाशङ्कर।

विषतन्त्रचिकित्सा-प्रकाश।

विष-विज्ञान— डा० कृष्णकुमार।

व्यवहारायुर्वेद एवं विष-विज्ञान—युगलकिशोर गुप्त।

आश्वलायन श्रौतसूत्र (उ० ४।७)।

कौशिक-सूत्र (२९।२-५; ३२।१९)।

महाभारत आदि पर्व (४२।३३–४१, ४३।१–१९, ५०।१७-२७)

ब्रह्मवैवर्तपुराण (३।५१)।

प्राचीनकाल से ही राजाओं और सम्पत्तिशाली व्यक्तियों का जीवन बहुमूल्य माना जाता है और शत्रु और दुष्ट जनों से उनके जीवन का संकट सदैव आशंकित रहा है। अतएव राजगृह के ही एक भाग में अतिविश्वसनीय, कुलीन एवं धार्मिक वैद्य का आवास होता था। राजा के उपयोग की समस्त सामग्री का निर्विषीकरण तथा भोज्य पदार्थों के निर्विष होने की पूरी जिम्मेदारी चिकित्सक की होती थी। सुश्रुत—कल्पस्थान अध्याय एक में विस्तारपूर्वक 'अन्नरक्षा' का वर्णन है।

युद्धस्थल में मार्ग, जल, वायु आदि भी विष से दूषित कर शत्रु को हानि पहुँचायी जाती थी, इसलिए इनकी परीक्षा और इनकी शुद्धि के लिए भी 'अगद' विषहर औषधियों का धूपन आदि किया जाता था।

सुश्रुत (कल्प० अ० १–४) में **विषकन्या** के प्रयोग से शत्रु की हत्या के प्रयास का उल्लेख मिलता है। संभवतः किसी शिशु बालिका को विषभक्षण का अभ्यास करवा कर उसके शरीर को विषमय बना दिया जाता रहा हो तथा उसके अधर एवं गुप्ताङ्ग आदि प्रदेश पर विष का आलेप कर उसे शत्रु के पास आकर्षकरूप में भेजा जाता रहा हो।

विष की शीघ्र कार्यकारिता को देखकर चिकित्सकों ने इसे शुद्ध कर भेषजीय प्रयोग भी प्रचलित किया और बहुत-सी औषधियों के योग में विष भी डाला जाने लगा। युक्तिपूर्वक प्रयोग करने पर विष का विषत्व अमृतत्व में परिणत हो गया और रसशास्त्र में विष का व्यापक महत्त्व स्वीकार किया गया। अलग प्रकरणों में विषों और उपविषों का वर्णन किया जाने लगा।

आयुर्वेद का यह अंग बड़ा ही विस्तृत है, किन्तु इसके जंगम तथा स्थावर विषों का सम्पूर्ण अध्ययन तथा अनुसन्धान अपेक्षित है। विष-चिकित्सकों का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि प्राणिजगत् का जहाँ तक विस्तार है, विषवैद्य की उपयोगिता सर्वत्र बनी हुई है।

सम्प्रति न्यायवैद्यक या व्यवहारायुर्वेद नामक एक उपाङ्ग अगदतन्त्र के साथ जुट गया है, जिसमें आकस्मिक रूप से अग्निदाह, जल में डूबने, विष खा लेने, फाँसी लगाने, गला दबाने या सांघातिक मर्मस्थान पर आघात आदि तथा अनैतिक मैथुन-कर्म आदि की समीक्षा न्यायिक दृष्टि से की जाती है। उन्माद रोग या संक्रामक रोग के परीक्षण की रिपोर्ट देनी होती है। आशुमृतक की परीक्षा की जाती है। कानून के पहलू से विभिन्न अपमृत्युओं की जाँच-पड़ताल कर साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त पर कानून के उल्लंघन का आरोप सिद्ध किया जाता है। यह विषय आधुनिक ग्रन्थों के अनुवाद से आयुर्वेद में संग्रहीत कर अगदतन्त्र के साथ जोड़ दिया गया है।

इसकी पुस्तकें अगदतन्त्र के साथ ही संलग्न हैं।

रसायनतन्त्र

रसायन में औषध, आहार और विहार तीनों ही प्रकार हैं। जिन औषध द्रव्यों के सेवन से शरीर में उत्तम रस-रक्तादि धातुओं की उपलब्धि होती है, वे रसायन कहे जाते हैं—

'लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्'। —च० चि० १।१

दीर्घकाल तक तारुण्यावस्था स्थापन करने के लिए आयु, बल तथा बुद्धि की वृद्धि के लिए एवं शरीर में रोगप्रतिरोधक शक्ति बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग है, उसे 'रसायनतन्त्र' कहते हैं—

'रसायनतन्त्रं नाम वयःस्थापनमायुर्मेधाबलकरं रोगापहरणसमर्थं च'—सु०सू० १

जिससे जरावस्था (वार्द्धक्य) एवं व्याधि का नाश हो, वह रसायन है—

'रसायनञ्च' तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्।' —शार्ङ्गधर

रसायन औषधों का प्रयोग केवल स्वास्थ्यवर्धन में ही नहीं, अपितु अनेक रोगों की चिकित्सा में भी किया जाता है। इनके उपयोग से शरीर में क्षमता (Immunity) या रोगप्रतिरोधकता (Resistance) बढ़ती है। रसायन के विधिवत् प्रयोग से

दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, वर्ण और स्वर की उत्तमता, शरीर में बल, वाक्सिद्धि तथा लोक में सम्मान प्राप्त होता है। रसायन के प्रयोग से च्यवन ऋषि ने पुनः यौवनावस्था प्राप्त की।

'अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत् पुनर्युवा'। —अ० सं० उ० ५९

वृद्धावस्था को दूर कर यौवनावस्था लाना और रोग को दूर करना, ये दो कार्य रसायन के हैं—'यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद् रसायनम्।'

रसायन का प्रभाव—

(१) पोषक रस के स्तर पर (Nutrition)—जैसे—शतावरी, खर्जूर, दुग्ध एवं घृत।

(२) अग्निवर्धक रसायन (Digestion & Metabolism)—जैसे—पिप्पली।

(३) स्रोतोशोधक रसायन (Micro-circulation)—जैसे—गुग्गुल, रसोन, कस्तूरी आदि।

रसायन औषधियों की कार्य-विधि—

(क) रसादि धातुगत परिवर्तन—धातुवृद्धिजनक।

(ख) व्याधिक्षमत्वगत परिवर्तन—व्याधि प्रतिषेधक या निवारक।

(ग) अन्तःस्राव (हार्मोन) गत परिवर्तन—शक्तिदायक।

रसायन के प्रकार—

१. प्रयोग-विधि के अनुसार –

(अ) कुटीप्रावेशिक।

(आ) वातातपिक।

२. चिकित्सा विधि के अनुसार—

(अ) काम्य (किसी विशेष कामना से)—

—प्राणकाम्य।

—मेधाकाम्य।

—श्रीकाम्य (कान्तिवर्धनार्थ)।

(आ) नैमित्तिक (किसी रोग को दूर करने के लिये)—

प्रमेह – शिलाजीत।

कुष्ठ या अर्श—भल्लातक।

मधुमेह या कुष्ठ—तुवरक।

(इ) आजस्रिक (निरन्तर भोजन के रूप मे)। जैसे–क्षीर या घृत।

(ई) आचार रसायन –सद्वृत, यम, नियम आदि। इससे मानसिक स्वास्थ्य में सुधार होता है।

३. चरक—अभयामलकीय, प्राणकामीय, कल्पचितीय, आयुर्वेदसमुत्थानीय।

४. सुश्रुत—सर्वोपघातशमनीय, मेधायुष्कामीय, स्वभावव्याधिप्रतिषेधनीय, निवृत्त सन्तापीय।

प्राचीन रसायनतन्त्रों में जिनका नाम सुना गया है, वे हैं—

पातञ्जलतन्त्रम्	सम्प्रति अनुपलब्ध।
व्याडितन्त्रम्	,, ,,
वसिष्ठतन्त्रम्	,, ,,
माण्डव्यतन्त्रम्	,, ,,
नागार्जुनतन्त्रम्	,, ,,

उपलब्ध सन्दर्भ—

चरकसंहिता चिकित्सास्थान अ० १।

सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान अ० २८, २९ तथा ३०।

अष्टाङ्गहृदय उत्तरस्थान अ० ३९ रसायनाध्याय।

रसायनखण्ड—नित्यनाथसिद्धकृत।

रसायनतन्त्र—पक्षधर झा।

रसायन-दर्शन।

रसायन के योगों में च्यवनप्राश अति प्रसिद्ध है। अन्य रसायनों में ब्राह्म-रसायन, शिलाजतु रसायन, शतावरी और रसोनकल्प प्रमुख हैं।

वाजीकरण

क्षीणपौरुष, अल्पवीर्य और सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पुरुषों को वीर्यवान्, पौरुष-सम्पन्न और सन्तान के उत्पन्न करने में समर्थ बनाने वाला यह अंग है।

'वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी।'

अर्थात् वाज का अर्थ शुक्र या वीर्य है, अतः जिसके पास शुक्र है, वह वाजी है, तदनुसार जिसके पास शुक्र नहीं है, वह अवाजी है।

'अवाजी वाजी क्रियते अनेन इति वाजीकरणम्।'

अर्थात् जिस क्रिया से अवाजी को वाजी किया जाता है, उसे वाजीकरण कहते हैं। वाजि शब्द का एक अर्थ घोड़ा होता है, तदनुसार वाजीकरण उस युक्ति या क्रिया का नाम है, जिसके द्वारा पुरुष घोड़े के समान अप्रतिहत सामर्थ्य युक्त होकर स्त्रीगमन में समर्थ होता है।

'वाजीकरणतन्त्रं नामाल्पदुष्टक्षीणविशुष्करेतसाम् आप्यायनप्रसादोपचयजनन-निमित्तं प्रहर्षजननार्थम्। — सु० सू० १

अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य एवं शुष्कवीर्य जनों में आप्यायन (वीर्यपुष्टि), प्रसादन (वीर्यशोधन), उपचय (वीर्यवृद्धि) और शुक्रजनन (वीर्योत्पादन)

करने के लिए तथा मैथुनेच्छा (प्रहर्ष) बढ़ाने के लिए जो आयुर्वेदाङ्ग है, उसे 'वाजीकरण' कहते हैं।

'वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतो स्त्रियः।
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां वाजीकरणमेव तत्॥
येन नारीषु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥' —च० चि० २

कामशास्त्र में रहस्यात्मक गुप्त विद्या माने जाने के कारण वाजीकरण को 'औपनिषदिक' कहा गया है। रतिशक्ति को बढ़ाकर यौवनानन्द तथा सन्तान-परम्परा का स्थापन करना इसका लक्ष्य है। विषयी पुरुष को निरन्तर वाजीकरण औषधियों का सेवन करना चाहिए। वात्स्यायन कामसूत्र के औपनिषदिक अधिकार में विस्तार-पूर्वक वाजीकरण योगों का वर्णन है।

सुश्रुतानुसार वाजीकरण के तीन लक्ष्य हैं—(१) स्त्री में प्रीति उत्पन्न करना, (२) सन्तानोपत्ति और (३) सद्यः कामतृप्ति।

वाजीकरण एवं रसायन में भेद

रसायन	वाजीकरण
१. स्त्री-पुरुष दोनों सेवन कर सकते हैं।	१. केवल पुरुष।
२. सभी आयुवर्ग के लिए।	२. सोलह से सत्तर वर्ष की आयु के लिये प्रशस्त।
३. रोगनाशक।	३. रोगनाशक नहीं।
४. प्रयोग के समय मैथुन निषिद्ध।	४. स्त्री सर्वोत्तम वाजीकर।
५. मांस अण्डा निषिद्ध।	५. मांस अण्डा प्रयुक्त।
६. कोई भी कर सकता है।	६. आत्मवान् तथा सदाचारी व्यक्ति को वाजीकरण का सेवन करना चाहिए।

कुचमारतन्त्र, अनङ्गरङ्ग, वात्सायन काममूत्र और पञ्चसायक इस विषय के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। लोल्लिम्बराज ने सरस भाषा में कुछ योगों का वर्णन किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

चरकसंहिता—चिकित्सास्थान २।
सुश्रुतसंहिता—चिकित्सास्थान २६।
अष्टाङ्गहृदय—उत्तरस्थान ४०।